



International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519

IJSR 2017; 3(4): 291-293

© 2017

www.anantaajournal.com

Received: 15-05-2017

Accepted: 16-06-2017

सौरभ

शोधछात्र स्नातकोत्तर संस्कृत
विभाग, ल0ना0मि0वि0वि0, दरभंगा,
बिहार, भारत

हिन्दी भाषा और उसकी बोलियाँ: यथार्थ और भ्रम

सौरभ

सारांश

भाषा और बोली के संदर्भ में विभिन्न विद्वानों ने अपनी-अपनी राय दी है। कुछ लोगों ने बोलियों को पूर्णतः भाषा (हिन्दी) में अन्तर्गत कर दिया है, तो कुछ ने बोलियों की स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार किया है। हिन्दी भाषा के विकास तथा प्रसार के संदर्भ में देखने से यह प्रतीत होता है कि हिन्दी भाषा तथा उसके प्रभावानीत प्रदेशों में प्रयुक्त जन-बोलियों का सहअस्तित्व रहा है तथा हिन्दी इन बोलियों के द्वारा सदा सम्पुष्ट होती रही है।

मुख्य-शब्द: हिन्दी भाषा संदर्भ में विभिन्न विद्वानों यथार्थ और भ्रम

प्रस्तावना

भाषा और बोली के विषय में संक्षेपतः यह उल्लेखनीय है कि उक्त दोनों शब्द सापेक्ष है। यह बहुमान्य सिद्धान्त है कि किसी पूर्वजा भाषा से उत्पन्न भाषा या बोली समूह के संदर्भ में पूर्वजाभाषा 'भाषा' कहलाती है एवं उससे उद्गत भाषा या बोली-समूह उसी पूर्वजा भाषा की बोली कहलाती है। पुनः एक ही स्रोत से विकसित विभिन्न बोलियों में से जो बोली शिक्षा, प्रशासन और साहित्य का माध्यम बन जाने के कारण व्यापक क्षेत्र की अधिकारिणी बन जाती है वह बोली भाषा की पदवी पाती है तथा उसकी अन्य सहोदरा बोलियाँ एवं क्षेत्रीय रूप उसकी बोली कहलाती है। सामसामयिक संदर्भ में किसी भाषा का अस्तित्व अपने क्षेत्रीय रूप या बोलियों से सर्वथा भिन्न नहीं होकर न्यूनाधिक रूप से समस्त बोली के समूह के रूप में रहता है। भाषा-शैली के स्वरूप के विषय में यही बहु-सम्मत भाषा-शास्त्रीय सिद्धान्त है। समानकालिक भाषा तथा उसकी बोली के रूप में परिगृहीत क्षेत्रीय रूप अथवा रूप समूह में मूलभूत शब्द भंडार व्याकरण तथा ध्वनि प्रकृति की अपेक्षा प्रथम दो तत्त्व किसी भाषा-विशेषज्ञ के रूप-निर्धारण तथा भेदाभेद निरूपण में अधिक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है। किन्तु हिन्दीवादी विद्वानों ने बोधगम्यता को अधिक महत्व प्रदान किया है। इस परम्परा के अनुवर्ती वर्तमान पीढ़ी के विद्वानों में आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा का नाम उल्लेखनीय है। आचार्य शर्मा बोधगम्यता के आधार पर भोजपुरी, अवधी आदि भाषाओं को हिन्दी की बोली मानने के पक्ष में प्रसिद्ध पाश्चात्य भाषाशास्त्री श्री सपीर की भाषा-बोली विषयक अवधारणा का हवाला देते हैं।^[1]

लेकिन, श्री सपीर की मान्यता के आलोक में आचार्य श्री शर्मा के मत को देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि श्री सपीर के मत से वे अपने जिस मन्तव्य की युक्तियुक्तता सिद्ध करना चाहते हैं वह संभव नहीं है। श्री सपीर का कथन है कि-
दवज वदसल जव इम उनजनंससल नदपदजमससपहपइसम इनज दव सवदहमत जव इम जवव वइसपअपवनेसल तमसंजमक जव मंबी वजीमतए जीमद जीम शंसदहनंहमश पे उवतम उमतमसल नेमक जींद शकंपंसमबजेशए इनज पद चतपदबपचसम जीमतम पे दव कपामितमदबम इमजूममद जीम जूवए जीनेए पद ेमदम ंसस त्वउंदे संदहनंहमेए ंसस ब्मसजपब संदहनंहमेए ंसस हमतउंदपब संदहनंहमेए ंसस संअपब संदहनंहमे ेदक ंसस प्दकव.तलंद अमतदंबनसंते तम उमतमसल कपंसमबज.हतवनचे वि ब्वउउवद तलंद प्दकव. म्मतवचमंद संदहनंहमण^[2]

प्रस्तुत उद्धरण से स्पष्ट है कि श्री सपीर एक मूल भाषा से विकसित समस्त भाषावर्ग को मूलभाषा की बोली मानते हैं। दूसरे शब्दों में, मूलभाषा से उद्गत लेकिन स्वतंत्र सत्ता सम्पन्न, समस्त आर्यभाषा समुदाय के स्वरूपगत भिन्नता में उत्पत्तिमूलक एकता या अभिन्नता का प्रतिपादन इसका लक्ष्य है। सपीर के अनुसार एक ही मूलस्रोत से उद्गत विभिन्न भाषा समूह भिन्न-भिन्न परिवर्तन दिशा का अनुसरण करने के कारण एक-दूसरे से दूर हटते हुए परस्पर अबोधगम्य होते हुए भी अपने में ऐसे अनेक मूलभूत समान तत्त्व को सुरक्षित रखते हैं जिसके आधार पर उस बोली तथा बोली गुच्छों को एक स्कन्ध से जोड़ा जा सकता है। यही कारण है कि बोधगम्यता के अभाव में भी भारतीय आर्यभाषा परिवार की भाषाओं को स्लाविक, ग्रीक, आधुनिक इतालिक अथवा रोमन्स, जर्मनिक तथा केल्टिक

Correspondence

सौरभ

शोधछात्र स्नातकोत्तर संस्कृत
विभाग, ल0ना0मि0वि0वि0, दरभंगा,
बिहार, भारत

भाषा-परिवार की सहोदरा भाषा मानी जाती है। जिन भाषाशास्त्रियों ने विश्व की विभिन्न भाषाओं को इस प्रकार के व्यापक परिवार में वर्गीकृत किया है उन्हीं भाषाविदों ने पुनः उसी परिवार या वर्ग के विभिन्न भाषा समूह को अनेक शाखा-उपशाखा आदि में विभाजित करके तत्तत् उपशाखा की अनेक बोलियों के स्वतंत्र भाषात्व को स्वीकार किया है। सपीर की भी मान्यता इसी तथ्य का समर्थन है। अतः उनके पूर्व उद्धृत कथन से यह निष्कर्ष कथमपि नहीं निकाला जा सकता है कि केवल उत्पत्ति के आधार पर समान स्रोत से उद्गत एक बोली उसी स्रोत से निःसृत दूसरी बोली की 'बोली' अथवा 'भाषा' है। सपीर की मान्यता के अनुसार विभिन्न भारतीय आर्यभाषा के विषय में यही कहा जा सकता है कि एक मूल भारतीय आर्यभाषा से निकले हुए समस्त प्राच्य, प्रतीच्य, मध्यदेशीय, उदीच्य और दक्षिणात्य शाखा के मध्य भारतीय आर्यभाषा गुच्छ प्राचीन भारतीय आर्य की बोली समूह है। उसी तरह आधुनिक भारतीय आर्यभाषा के मागधी भाषावर्ग (मगही, बंगला, असमिया, उड़िया), अर्धमागधी भाषा वर्ग (मैथिली, भोजपुरी, अवधी), मध्यदेशीय भाषा वर्ग (खड़ी बोली, ब्रजभाषा), प्रतीच्यभाषावर्ग (गुजराती, राजस्थानी), उदीच्यभाषा वर्ग (सिन्धी, लहन्दी, पंजाबी), तथा दक्षिणात्य भाषा (मराठी) अपनी पूर्वजा भाषा प्राकृत अपभ्रंश के विभिन्न बोली समूह है। अतः उपर्युक्त मतानुसार सिद्धान्ततः विभिन्न आधुनिक भारतीय आर्यभाषा समुदाय अपनी जननी भाषा के ही संदर्भ में बोली है, न कि अपनी सोदरा भाषाओं के संदर्भ में। प्राचीन आर्यभाषा से आधुनिक भारतीय आर्यभाषा की स्थिति तक पहुँचने के लिए भारतीय आर्यभाषा को अनेक विकास स्तर प्राप्त करना पड़ा है। इस विकासक्रम में ईसा के करीब दसवीं शताब्दी में आकर परस्पर भिन्न अपभ्रंश से आधुनिक हिन्दी की आधारभूत खड़ी बोली तथा अवधी, भोजपुरी, मैथिली और मगही का स्वरूप विकास हुआ। स्पष्ट है कि उपर्युक्त भाषाओं के उद्भव मूलक तथा ध्वनिभावपरक विशिष्टता को देखते हुए सपीर के मान्यतानुसार भोजपुरी, अवधी, मैथिली आदि को हिन्दी की बोली कथमपि सिद्ध नहीं किया जा सकता है। सम्बद्ध भाषाएँ मोटा-मोटी एक ही समय में अपभ्रंश के भिन्न-भिन्न जनपदीय रूप से विकसित हुई हैं तथा अपभ्रंश के आधुनिक भारतीय आर्यभाषा के रूप में विकसित होने के पहले ही इन बोलियों का अव्यवहित पूर्वज रूप की स्वतंत्र सत्ता साहित्यिक माध्यम के रूप में भी अंशतः प्रमाणित हो चुकी है। आधुनिक आर्य के उसी पूर्वज रूप परवर्ती अपभ्रंश अथवा 'अवध' नाम से अभिहित हुआ है। जहाँ तक परवर्ती अथवा अग्रसरीभूत अपभ्रंश के गर्भ से आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के विकास का प्रश्न है इसमें अधुनातन उपलब्ध सामग्री के आधार पर यही सिद्ध होता है कि हिन्दी की बोली के नाम से प्रचारित बोली समूह की पूर्वी शाखा में नवीन तत्त्व का उपभेद पश्चिमी शाखा की अपेक्षा पहले हुई तथा हिन्दी की पश्चिमांचलीय बोलियों में से राजस्थानी में नवीन तत्त्व का विकास शेष बोलियों की अपेक्षा द्रुततर गति से हुई। इस संबंध में डॉ. नामवर सिंह का कथन है कि ऐतिहासिक दृष्टि से राजस्थानी और मैथिली बोलियों का उदय पहले हो गया, इसके बाद अवधी का उदय हुआ। ब्रजभाषा और खड़ी बोली का उदय लगभग साथ-साथ ही हुआ।^[3] इससे स्पष्ट होता है कि साहित्यिक भाषा के रूप में मैथिली हिन्दी प्रभावानीत अन्य साहित्यिक भाषाओं की पुरोगामिनी है।

वैसे तो भाषा और बोली में कोई तात्त्विक अंतर नहीं है। लेकिन, सैद्धान्तिक रूप से मूलतः और अभिन्न रहते हुए भी भाषा तथा बोली व्यवहारतः अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में क्रमशः व्यापक और संकुचित स्वरूप का परिचायक है। अर्थात् बोली समूह में से जो बोली व्यापक व्यवहार क्षेत्र की अधिकारिणी बन जाती है, उसी बोली के लिए व्यावहारिक सुविधा के लिए भाषा शब्द का प्रयोग होने लगता है। अतः किसी भाषा अथवा बोली के लिए प्रयुक्त यह दोनों अभिधा व्यवहारतः उसके विकास द्वारा की दशा के साथ-साथ उसके पारस्परिक संबंध का भी परिचायक होता है। जिस तरह बोली अनुकूल सामाजिक और राजनीतिक पृष्ठभूमि

पाकर भाषा के रूप में आत्मोन्नति के मार्ग पर अग्रसर होती है, उसी तरह भाषा प्रतिकूल परिस्थिति में पड़कर बोली के रूप में संकुचित हो जाती है। खड़ी बोली हिन्दी, ब्रजभाषा, अवधी, मैथिली तथा राजस्थानी इसका स्पष्ट उदाहरण है।

भाषा बोली के इस सत्ता संघर्ष के संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि परिस्थिति विशेष में कभी गुण-प्रकार में भिन्न भाषा या बोली भी भिन्न भाषा-भाषी प्रदेश के प्रशासन, विधान, शिक्षा आदि का माध्यम बन व्यापक क्षेत्र की सम्पर्क भाषा के रूप में उभरती है। राजनीतिक पृष्ठ पोषण से बढ़ती हुई इसी प्रकार की भाषा बहुधा साहित्यिक माध्यम के रूप में भी अपना ली जाती है। इसी क्रम में इस प्रकार की भाषा साधारणतः अपने प्रभाव क्षेत्र की भाषा-बोलियों से और विशेषतः अपनी सोदरा बोलियों से कुछ तत्त्व ग्रहण करते हुए विभिन्न भाषा-बोली क्षेत्र को आच्छादित कर लेती है। इस विजयाभियान में सम्बद्ध भाषा सर्वप्रथम आधारभूत बोली को तदुपरान्त उस बोली से ध्वनि-प्रकृति तथा भाव-प्रकृति की दृष्टि से निकट सम्पुक्त बोलियों को अपदस्थ करती हुई तथा उन बोलियों के अपेक्षाकृत सर्वसाधारण तत्त्वों को आत्मसात करती हुई व्यापक क्षेत्र की आदर्शभाषा अथवा परिनिष्ठत भाषा के रूप में स्वरूपलाभ करती है। इस प्रक्रिया में सम्बद्ध भाषा सामाजिक तथा राजनीतिक दृष्टि से सुषुप्त विभिन्न भाषा-बोली क्षेत्र की भी शिष्टभाषा के रूप में प्रचारित होने लगती है। इस स्थिति में सम्बद्ध प्रदेशों की भिन्न-भिन्न भाषा व्यवहार सीमा की दृष्टि से बोली कहलाने लगती है तथा भाषा के रूप में अधिरोपित बोली उन क्षेत्रों के सर्वसाधारण भाषा के रूप घोषित होने लगती है। लेकिन, बाह्य कारणवश संकुचित व्यवहार में आनेवाली इस प्रकार की समस्त बोली भाषा-तात्त्विक रूप से उस अधिरोपित भाषा की बोली नहीं कही जा सकती है। क्योंकि वह बोली किसी भाषा की बोली कहलाती है जिसमें कि या तो माता-पुत्री का संबंध हो अथवा एक ही भाषा के समसामयिक क्षेत्रीय भेद हो तथा भाषा एवं उसकी बोली मानी जाती हो बोली में मूलभूत शब्द भंडार, व्याकरण तथा ध्वनि के क्षेत्र में उल्लेखनीय साम्य हो।

इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि भावभूमि तथा ध्वनि-प्रकृति में भिन्न भाषाएँ सामान्यतः अधिरोपित भाषा की उत्पादन प्रक्रिया का प्रतिरोध करती हुई अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व को यथाशक्ति अक्षुण्ण रखती हैं। यही कारण है कि हिन्दी में प्रादेशिक भाषाओं के विलयन का दीर्घकालव्यापी अभियान अवधी, भोजपुरी, मैथिली और मगही के अस्तित्व को नहीं मिटा सका, यद्यपि इस समस्त अवधि में सम्बद्ध भाषाओं से तथा अधिकांशतः संस्कृत से शब्दावली ग्रहण द्वारा हिन्दी का सर्वभाषाग्राह्य रूप-विधान का प्रयास होता रहा है। आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा के बोधगम्यता संबंधी विचार के प्रतिकूल यह कहा जा सकता है कि दो बोलियों के बीच बोधगम्यता रहते हुए भी साधारणतः उच्चारण तथा मूल शब्द भण्डार, विषयक और विशेषतः व्याकरणमूलक अथवा भावप्रकृतिजन्य भिन्नता रहने पर दोनों बोलियों को स्वतंत्र भाषा अथवा बोली मानना चाहिए। हिन्दी तथा इसके प्रभावानीत भाषाओं के बीच में विद्यमान बोधगम्यता अधिकांशतः हिन्दी की आयातित शब्दावली आधृत है। अतः इस संबंध में यह उल्लेखनीय है कि अव्यवहित पूर्ववर्ती स्रोत से विकसित भाषा तथा उसकी बोलियों में विद्यमान बोधगम्यता सहज शिक्षा-अभ्यास निरपेक्ष तथा उभयपक्षीय रहता है। लेकिन, दूरगत संबंध सूत्र से जुड़ी भाषा तथा उसकी बोली के रूप में प्रचारित भाषा-बोली के बीच में विद्यमान बोधगम्यता कृत्रिम, आंशिक, शिक्षा-अभ्यास-सापेक्ष तथा एकपक्षीय रहता है।

अतः इस प्रकार की बोधगम्यता को भाषा-बोली सम्बन्ध निरूपण निरूपण का आधार मानना भारतीय भाषाओं के संबंध में सर्वथा बलाग्रह ग्रस्त है।

इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती है कि भारत के विभिन्न आधुनिक आर्यभाषाओं के परिनिष्ठित रूप में अभी भी थोड़ी-बहुत बोधगम्यता है जिसका प्रमुख कारण है कि इन रूपों की तत्सम-प्रवणता तथा विभिन्न स्रोत से गृहीत सर्वभाषा-साधारण

शब्दावली। कहना अनावश्यक है कि आधुनिक परिनिष्ठित आर्यभाषाओं से जो इन तत्त्वों को निकाल दिया जाए तो प्रत्येक आर्यभाषा अपनी-अपनी प्रादेशित शब्दावली में सिमटकर संकुचित क्षेत्र ही बोधगम्य रह जाएगी। इस स्थिति में स्वतंत्र भाषा के रूप में स्वीकृत विभिन्न आधुनिक आर्यभाषा की कौन बात, वस्तुतः हिन्दी की बोलियाँ भी एक दूसरे के लिए अबोधगम्य हो जाएगी। लेकिन, इस प्रकार की अबोधगम्यता के अथवा दुर्बोधता के कारण उन क्षेत्रीय बोलियों को स्वतंत्र भाषा के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता है। क्योंकि, किसी बोली को स्वतंत्र भाषा तत्त्व के लिए अपेक्षित तत्त्व व्याकरणमूलक स्वतंत्र स्वरूप, मूल शब्दभंडार तथा ध्वनिमूलक भिन्नता के साथ-साथ उस बोली में अविच्छिन्न रूप से साहित्य सर्जना और भाषाभिमान बोध है।

वस्तुतः उपर्युक्त तत्त्व के अतिरिक्त भाषा-शैली के वर्गीकरण का अन्य कोई वैज्ञानिक आधार संभव नहीं है। इस आधार को ध्यान में रख डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी ने 1946ई. में हुई हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन के सभापति पद से मैथिली, राजस्थानी तथा भोजपुरी भाषा को हिन्दी से पृथक् स्वतंत्र भाषा के रूप में स्वीकृत करने का सुझाव दिया था।^[4]

लेकिन, जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है, हिन्दी के अन्तः प्रादेशिक स्वरूप-हानि की आशंका से ग्रस्त हिन्दीवादी विद्वान् भाषा-बोली विषयक भाषातात्विक तथ्य को सतत् उपेक्षा की दृष्टि से देखते रहे। फलतः हिन्दी-भिन्न भाषा के रूप में मैथिली, भोजपुरी और राजस्थानी के स्वतंत्र अस्तित्व की स्वीकृति के लिए जिस जानपद और प्रान्तिक चेतना के उदय का संकेत डॉ. चटर्जी के निबंध में किया गया है उसको हिन्दीवादी भाषाशास्त्री उल्लिखित क्षेत्र के वर्ग विशेष की अपनी बोली के प्रति मोह की संज्ञा देकर दुराग्रह सिद्ध करने का प्रयास करते रहे।

प्रस्तुत अध्ययन से स्पष्ट है कि हिन्दी की आतिरंजित पक्षधरता से ग्रस्त कुछ विद्वानों ने तथाकथित हिन्दी प्रदेश में मातृभाषा, प्रादेशिक भाषा तथा साहित्यिक शिष्टभाषा के रूप में हिन्दी के आधिपत्य को सुरक्षित रखने के उद्देश्य से ही भाषा-शैली के सम्बन्ध विषयक वस्तुनिष्ठ पारिवारिक वर्गीकरण को कोई महत्त्व नहीं दिया। लेकिन, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भाषा तथा उसकी बोली में व्याकरणमूलक, मूलशब्दभंडारगत तथा ध्वनितत्त्वात्मक साम्य रहना अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त भाषा बोली सम्बन्ध निरूपण के मान्य आधार के रूप में जिस तत्त्व को आधुनिक भाषा विभान स्वीकार करते हैं वो है विभिन्नताबोध तथा सातत्यभावना। संसार के विभिन्न भाषा बोली समुदाय की वास्तविक स्थिति के अध्ययन के बाद आधुनिक भाषाविद् इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि पारस्परिक बोधगम्यता को भाषा-बोली सम्बन्धन का आधार नहीं माना जा सकता है। इस संबंध में आधुनिक जर्मन तथा डच के संबंध में डॉ. ट्रडगिल के विचार उल्लेखनीय हैं,^[5] जिसमें उन्होंने बोधगम्यता को साफ नकार दिया है।

इसी कारण से आधुनिक भाषा-विज्ञान भाषा-बोली की भिन्नता-अभिन्नता के निकष रूप में त्रिभेदबोध तथा सातत्यभावना इन दो तत्त्वों को स्वीकार करता है। अर्थात् जब किसी भौगोलिक क्षेत्र की भाषा के विभिन्न भाषा-भाषी रहने की भावना क्रियाशील है और उस भावना को इतिहास समर्थित सामाजिक तथा सांस्कृतिक पृष्ठपोषण प्राप्त है तो सम्बद्ध प्रदेश की भाषा तथा इतर प्रदेश की भाषा परस्पर बोधगम्य रहते हुए भी परस्पर भिन्न स्वतंत्र भाषा मानी जाती है। इसके विपरीत जो भाषा विशेष के विभिन्न क्षेत्रीय रूप के प्रयोग करनेवाले समुदाय में एक-दूसरे से भाषा के पूर्वतर रूपक स्तर पर अथवा समसामयिक मानक भाषा के स्तर पर अभिन्न रहने की भावना क्रियाशील रही है तो वे प्ररूप परस्पर अबोधगम्य रहते हुए भी एक ही भाषा की विभिन्न बोली के रूप में स्वीकृत करने योग्य रहती है।

निष्कर्ष:-

तथ्यों के विवेचन और निरीक्षण से यह स्पष्ट होता है कि हिन्दी की अतिरंजित पक्षधरता से ग्रस्त कुछ विद्वानों ने तथाकथित हिन्दी प्रदेश की मातृभाषा तथा बोलियों के अस्तित्व को नकारने का उपक्रम किया है। इस संबंध में उन्होंने उनके पारिवारिक वर्गीकरण को कोई महत्त्व नहीं दिया है। तुलनात्मक अध्ययन से इस निष्कर्ष पर पहुँचा गया है कि पारस्परिक बोधगम्यता को भाषा-बोली सम्बन्ध का आधार नहीं माना जा सकता है। सामाजिक तथा सांस्कृतिक पृष्ठ पोषण प्राप्त करते हुए ये प्रादेशिक बोलियाँ और भाषाएँ सतत् रूप से अपने स्वतंत्र अस्तित्व को कायम रखती हैं।

संदर्भ सूची:-

1. आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा-राष्ट्रभाषा हिन्दी: समस्याएँ और समाधान, पृ.-155-156
2. सेलेक्टेट राइटिंग्स ऑफ एडवर्ड सपीर, पृ. 156 में उद्धृत
3. डॉ. नामवर सिंह, हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, तृतीय संस्करण, पृ.97
4. डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी-ऋतम्भरा नामक हिन्दी निबंध संग्रह में संकलित, राष्ट्रभाषा का प्रश्न, पृ.64-66.
5. डॉ. ट्रडगिल-सोसियो लिंग्विस्टिक्स, पृ. 15-16